2 2/61

भाषा-विज्ञान और ऋषि दयानन्द

[ले०—श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, अध्यक्ष—म० द० स्मारक, वेदानुसन्धान विभाग, टंकारा]

साम्प्रतिक विद्वानों का मत है कि भाषाविज्ञान आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों के मस्तिष्क की अभूतपूर्व उपज है। भारतीय प्राचीन ऋषि मुनि और आचार्य इस विज्ञान से याथातथ्य-रूप में परिचित नहीं थे। यद्यपि निरुक्तशास्त्र भाषा विज्ञान का ग्रन्थ माना जाता है, परन्तु वास्तविकरूप में उसका भाषाविज्ञान से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। उसमें दर्शाए गए शब्द-निर्वचन प्रायः काल्पनिक और सन्दिग्ध हैं।[1]

हमारी दृष्टि में पाश्चात्य विद्वानों तथा तदनुयायी भारतीय विद्वानों की उक्त धारणा सर्वथा निर्मूल है। भारतीय आचार्य भाषाविज्ञान के न केवल वर्त्तमान सभी मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों से ही परिचित थे, अपितु भाषाशास्त्र के कई एक ऐसे भी सिद्धान्त भारतीय प्राचीन ग्रन्थों में उल्लिखित हैं, जिनका परिज्ञान वर्तमान के भाषाविज्ञों को अभी तक नहीं है।

प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में भाषाविज्ञान के मूलभूत सिद्धान्त अनेक प्रकार के ग्रन्थों में उल्लिखित हैं। आवश्यकता है, उन सब को संकलित करके वर्तमान भाषाविज्ञान के सदृश स्वतन्त्र रूप देने की। जिस प्रकार के ग्रन्थों में भाषाविज्ञान के सिद्धान्त निर्दिष्ट हैं वे निम्न हैं—

१—समस्त शिक्षाग्रन्थ और उनकी व्याख्याएँ।

२—समस्त संस्कृत व्याकरणशास्त्र तथा उनकी व्याख्याएँ।

३—मीमांसा ग्रन्थ और ऊपर लिखे गए व्याख्या ग्रन्थ।

४—निरुक्तशास्त्र तथा उनकी टीकाएँ।

५—वैदिक शाखा ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषद्।

६—प्रातिशाख्य तथा उनकी व्याख्याएँ।

७—भरत नाट्यशास्त्र तथा उसकी व्याख्याएँ।

८—प्राकृत-पालि-अपभ्रंश आदि के व्याकरण तथा उनकी व्याख्याएँ।

---

१. द्र० श्री डा० राजवाडे द्वारा संपादित निरुक्त की भूमिका, श्री डा० सिद्धेश्वर वर्मा कृत ऐटीमोलोजी आफ यास्क नामक ग्रन्थ। उक्त दोनों के समस्त उद्धरणों के लिए देखिए वेदवाणी वर्ष ९ अङ्क १—२ (वेदाङ्क सं० ५) पृष्ठ १२३—१५५ तक श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु का लेख। दोनों के निर्मूल आक्षेपों के उत्तर के लिए मेरी वैदिक छन्दोमीमांसा' का द्वितीय अध्याय और ऋषिदयानन्द की पद प्रयोग शैली ग्रन्थ भी देखना चाहिए।

हमने उपरिनिर्दिष्ट ग्रन्थों का भाषाविज्ञान की दृष्टि से यथाशक्ति जो अनुशीलन किया है, उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि उक्त भारतीय ग्रन्थ भाषाविज्ञान के क्षेत्र में आज भी अनेक ऐसे रहस्यों को प्रकट करने में समर्थ हैं, जिन्हें वर्तमान भाषाविद् नहीं जानते। वर्तमान भाषाविज्ञों ने इस अमूल्य भारतीय वाङ्मय का न तो इस दृष्टि से पूर्ण अवगाहन ही किया है और न वे इन ग्रन्थों के वास्तविक महत्त्व को समझ ही पाए हैं। इसलिए उक्त ग्रन्थों में भाषाविज्ञान सम्बन्धी विप्रकीर्ण सामग्री को यथोचित रूप में संग्रह करके उसे वर्तमान भाषाविज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थों के समान स्वतन्त्र रूप देने की महती आवश्यकता है।

भाषाविज्ञान और ऋषि दयानन्द

हमने भाषाविज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थों का जितना अनुशीलन किया है, उसके आधार पर हम निस्सन्देह कह सकते हैं कि ऋषि दयानन्द ने इस भाषाविज्ञानरूप महत्त्वपूर्ण विषय का भी गम्भीर अनुशीलन किया था। वे भाषाविज्ञान-सम्बन्धी भारतीय और पाश्चात्य सिद्धान्तों से पूर्ण परिचित थे। यद्यपि ऋषि दयानन्द ने भाषाविज्ञान पर साक्षात् कुछ नहीं लिखा, पुनरपि उन्होंने पूना के व्याख्यान (उपदेशमञ्जरी नाम से संगृहीत) तथा सं० १९३२ (सन् १८७५) के प्रथम सत्यार्थप्रकाश में प्रसंगवश इस विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण संकेत किए हैं। आज हम उन्हीं संकेतों को भाषाविज्ञान में रुचि रखने वाले विद्वानों के सम्मुख उपस्थित करते हैं। निश्चय ही भाषाविज्ञान के विद्वानों को आश्चर्य होगा कि आज से ८५ वर्ष पूर्व ऋषि दयानन्द ने इस विज्ञान का कितना गम्भीर अनुशीलन किया था और किस प्रकार उसके अनेक मूलभूत सूक्ष्म सिद्धान्तों का थोड़े से सीधे सादे शब्दों में वर्णन किया था।

१—पूना के १२ जुलाई १८७५ के वेदविषयक व्याख्यान में ऋषि दयानन्द ने कहा था—

क—संस्कृत भाषा सारी भाषाओं का मूल है।

ख—अंग्रेजी सदृश भाषाएँ उससे परम्परा से उत्पन्न हुई हैं।

ग—एक भाषा दूसरी भाषा का अपभ्रंश[1] होकर उत्पन्न होती है।

घ—'वयम्' इस संस्कृत शब्द में के 'यम्' को सम्प्रसारण होकर 'वी' यह शब्द उत्पन्न हुआ। उसी तरह 'पितरः' से 'पेतर' और 'फादर', 'यूयम्' से 'यू' और 'आदिम से 'आदम' इत्यादि।

ङ—ऐसे ऐसे अपभ्रंश कुछ नियमों के अनुकूल होते हैं और कुछ अपभ्रंश यथेष्टाचार भी होते हैं।

टिप्पणी—ये सारे उद्धरण उपदेशमञ्जरी के (पृष्ठ ३९) पर एक स्थान से ही उद्धृत किए हैं। इनका क–ख वर्गीकरण मात्र हमने किया है।

२—संवत् १९३२ (सन् १८७५) के प्रथम सत्यार्थप्रकाश के सप्तम समुल्लास में ऋषि दयानन्द ने लिखा था[2]—

प्रश्न—देशभाषा भिन्न-भिन्न सब कैसे बन गईं और किससे बनीं। उत्तर—

च—सब देशभाषाओं का मूल संस्कृत है। क्योंकि—

छ—संस्कृत जब बिगड़ती है, तब अपभ्रंश कहाता है।[3] फिर अपभ्रंश से सब देशभाषा होती है। जैसे कि—

ज—'घट' से 'घड़ा', 'घृत' शब्द से 'घी', 'दुग्ध' से 'दूध', 'नवनीत' से 'नैनू',[4] 'अक्षि' शब्द से 'आँख', 'कर्ण' शब्द से 'कान', नासिका' शब्द से 'नाक', जिह्वा' शब्द से 'जीभ', 'मातर', से 'मदर',

---

१. यहाँ तथा सत्यार्थप्रकाश के उत्तर उद्धरण में अपभ्रंश शब्द सामान्यरूप से विकार को प्राप्त सभी भाषाओं के लिए प्रयुक्त हुआ है। अपभ्रंश शब्द से सम्प्रति व्यवहृत भाषाविशेष के लिए नहीं है।

२. सत्यार्थप्रकाश (सं० १९३२), संस्कारविधि (सं० १९३२) तथा पञ्चमहायज्ञविधि (सं० १९३२) के प्रथम संस्करणों में अनेक ऐसे उपयोगी और महत्त्वपूर्ण अंश हैं, जिनका उत्तरकालीन परिष्कृत संस्करणों में उल्लेख नहीं मिलता। ३. यहाँ भी अपभ्रंश शब्द पूर्ववत् विकार को प्राप्त भाषामात्र के लिए व्यवहृत हुआ है, भाषाविशेष के लिए नहीं। ४. किन्हीं प्रदेशों में 'नैनी' शब्द भी व्यवहृत होता है।

'यूयम्' शब्द से 'यू', 'वयम्' शब्द से 'वी', 'गूढ' शब्द से'गोड' इत्यादि जान लेना। और

झ—एक पदार्थ के बहुत नाम हैं। जैसे कि 'गौः' नाम गाय [के] 'ग्मा' ज्मा, क्ष्मा, क्ष्मा, क्षोणी, क्षितिः, अवनिः, उर्वी, पृथ्वी, मही, रिपः, अदितिः, इडा, निर्ऋतिः, भूः, भूमिः, पूषा, गातुः, गोत्रा' ये २१ नाम पृथिवी के हैं।[१] सो भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न नामों से भिन्न-भिन्न अपभ्रंश होने से भिन्न-भिन्न भाषा बन जाती है। और

ञ—एक नाम बहुत अर्थों का होता है। जैसे कि सिंह, वानर, घोड़ा, सूर्य, मनुष्य, देव और चोर का नाम 'हरि' है। इस से भी भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न भाषा होती है। क्योंकि किसी देश में सिंह नाम से उस पशु का व्यवहार किया[२], किसी देश में हरि शब्द से वानर का ग्रहण किया, किसी देश में हरि शब्द से घोड़े को लिया, किसी देश में हरि शब्द से सूर्य को लिया, किसी देश में हरि शब्द से चोर को लिया। इस हेतु भाषा भिन्न भिन्न हो गई। और

ट—मनुष्यों के उच्चारण भेद से भिन्न भिन्न भाषा हो जाती हैं। जैसे कि 'ज्ञ्' ये दोनों अकार में मिलने से यह अक्षर 'ज्ञ' होता है। सो आजकल इसका लेख ऐसा हो गया है—'ज्ञ'। इस एक अक्षर के अन्यथा उच्चारण से तीन भेद हो गए। गुजराती लोग गकार और नकार का [ग्न-ऐसा] उच्चारण करते हैं, महाराष्ट्रादिक दाक्षिणात्य लोग द और न का [द्न-ऐसा] उच्चारण करते हैं, और अन्य लोग गकार और यकार का [ग्य-ऐसा] उच्चारण करते हैं। तथा

तालव्य 'श' मूर्धन्य 'ष' और दन्त्य 'स' इन तीनों के स्थान में बंगाली लोग तालव्य शकार का उच्चारण करते हैं। मध्य और पश्चिम देश वाले तीनों के स्थान में दन्त्य सकार का उच्चारण करते हैं। तथा—

ठ—किसी की जीभ कठिन होती है। वह प्रायः शब्दों का अन्यथा उच्चारण करता है[३]। और—

ड—किसी देश में विद्या का लेश न होय, उस देश में संकेत, व्यवहार करने के हेतु शब्दों का कर लेते हैं कि इस शब्द से इसको जानना और इस शब्द से इसको जानना[४]। जैसे दाक्षिणात्य लोगों ने घी का नाम 'तूप' रख लिया और उत्तर देशवासियों ने घी का नाम 'चोखा' रख लिया और गुजरातियों ने चावल का नाम चोखा रख लिया। इससे भी देश देशान्तर की भाषा भिन्न-भिन्न हो गई।

ढ—इसी प्रकार के अन्य कारणों को भी विचार लेना।

टिप्पणी—'च' से लेकर 'ढ' पर्यन्त उद्धरण सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण (सं० १९३२) के पृष्ठ २५०-२५१ तक एकस्थान पर ही हैं। हमने इनका पृथक् पृथक् रूप में वर्गीकरण मात्र किया है। तथा 'ट' संकेतित उद्धरण में [ ] कोष्ठान्तर्गत तीन पाठ अर्थज्ञान की सुगमता के लिए बढ़ाए हैं।

२—सत्यार्थप्रकाश (प्रथम संस्करण सं० १९३२) में पुनः लिखा है—

ण—सब देशभाषाओं का मूल संस्कृत। पृष्ठ ३०९।

त—संस्कृत के बिगड़ने से गिरीश (ग्रीक), लाटीन, अंग्रेज और अरब देशवालों की भाषा बन गई। पृष्ठ ३०९।

थ—सब देश देशान्तर की भाषा को पढ़ना चाहिए।...........संस्कृत शब्द के ज्ञान का भी उनको यथावत् बोध होता है। पृष्ठ ३२७।

द—संस्कृत शब्द बिगड़ के देश भाषा होती है। पृष्ठ ३२७।

ध—इससे इनके ज्ञानों से परस्पर संस्कृत और

१. द्र० निघण्टु १।१॥

२. उत्तर वाक्यों की तुलना से प्रकट होता है कि यहां पाठ कुछ भ्रष्ट हो गया है। यहां 'क्योंकि किसी देश में हरि नाम से सिंह पशु का व्यवहार किया' ऐसा पाठ होना चाहिए।

३. ऐसे शब्दों को भारतीय भाषाविज्ञान में 'यदृच्छा शब्द' कहा जाता है।

४. ऐसे विकारों को भारतीय भाषाविज्ञान में 'अशक्तिज' कहा गया है।

भाषा के ज्ञान में उपकार ही होता है[१] । पृष्ठ ३२७ ।

टिप्पणी— 'ण' से 'ध' तक के उद्धरण भी प्रथम सत्यार्थप्रकाश (सं० १९३२) के एकादश समुल्लास के हैं ।

उक्त उद्धरणों का स्पष्टीकरण

संसार को मूलभाषा—'क' 'च' और 'ण' उद्धरणों में एक ही बात कही गई है कि संस्कृत भाषा ही समस्त भाषाओं की मूल भाषा है[२] । आधुनिक भाषाविज्ञानवेत्ता इस बात से सहमत नहीं हैं । उन्होंने संसार की भाषाओं को भारोपीय (इण्डोयोरोपिन) सेमेटिक, हेमेटिक, अल्टिक आदि अनेक परिवारों में बांटा है । इतना ही नहीं, वे संस्कृत भाषा को भारोपीय भाषाओं की मूलभाषा भी नहीं मानते । उनके मत में भारोपीय भाषाओं की मूलभूत कोई अन्य भाषा थी, जो सम्प्रति लुप्त हो गई है । संस्कृत भाषा उस लुप्त भाषा की पौत्री और ग्रीक आदि भाषाओं की स्वसा स्थानीय है ।

वस्तुतः भाषा विषयक उक्त विभाग और मत काल्पनिक हैं । कतिपय पाश्चात्य भाषाविद् भी अब यह स्वप्न लेने लगे हैं कि संसार की समस्त भाषाएं एक ही वंश-परम्परा की हैं । "ग्रे" लिखता है—"एक समय देखा जाएगा कि वर्तमान में पृथक् पृथक् माने गए प्रधान-प्रधान भाषा-परिवार (इण्डोयोरोपीन, हेमेटिक, सेमेटिक अल्टिक आदि) एक ही वंश परम्परा के सिद्ध हों ।"[३]

पाश्चात्य विद्वानों ने भारोपीय परिवार की मूलभाषा भी संस्कृत को नहीं माना है, इसमें दो प्रधान कारण हैं । एक—ईसाई यहूदी पक्षपात । दूसरा—संस्कृत भाषा के वर्तमान अतिसंकुचितरूप के साथ अन्य भाषान्तरों की तुलना । यदि संस्कृत भाषा के आदिकालीन विपुल स्वरूप को सामने रखकर संसार की अन्य भाषाओं की तुलना की जाए तो संस्कृत भाषा निश्चय ही अपने गौरवपूर्ण विश्वभाषा-जननी के पद पर अधिष्ठित हो जाएगी । इस कार्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि संस्कृतभाषा के विलुप्त अति-विपुल स्वरूप को पुनः प्रकाश में लाया जाय । यह महत्त्वपूर्ण कार्य किस प्रकार सम्भव हो सकता है, इसका निर्देश हमने 'ऋषि दयानन्द की पद-प्रयोग शैली'[४] के पृष्ठ ४—१७ तक विशेषरूप से और शेष ग्रन्थ में सामान्यरूप से किया है । पाठकवृन्द इस महत्त्वपूर्ण पुस्तक का इस दृष्टि से अवश्य अवलोकन करें ।

२ भारोपीय भाषाओं का मूल—'ख' और 'त' उद्धरण में दर्शाया है कि अंग्रेजी तथा तत्सदृश अन्य योरोपियन भाषाएँ मूलतः संस्कृत भाषा से ही उत्तरोत्तर विकृत होकर वर्तमान रूप को प्राप्त हुई हैं । दूसरे शब्दों में योरोपीय भाषाओं का मूल भी संस्कृत भाषा ही है । संस्कृत में किस प्रकार विकार होकर किस शब्द से कौन से शब्द बने, इसके कतिपय उदाहरण 'घ' और 'झ' उद्धरणों में दर्शाए हैं ।

३ अरबी भाषा का संस्कृत से सम्बन्ध—अर्वाचीन भाषाविद् अरबी भाषा को इण्डोयोरोपियन विभाग से सर्वथा पृथक् रखते हैं । उनके मत में अरबी का संस्कृत भाषा के साथ कोई दूर का भी सम्बन्ध नहीं है । परन्तु यह मत चिन्त्य है । अरबी भाषा की संस्कृत भाषा से कई अंशों में महती समानता है । अरबी में भी संस्कृत के समान एकवचन, द्विवचन और बहुवचन तीन होते हैं । दोनों के व्याकरण में भी कुछ समानता है । इतना ही नहीं, संस्कृत के कतिपय ऐसे भी शब्द हैं जो अरबी में अद्यावत् सुरक्षित हैं । आदम शब्द संस्कृत के आदिम का और अल्लाह संस्कृत अल्ला (माता) का साक्षात् अपभ्रंश है ।

अरब देशवासी पुराने असुरों की सन्तान है । असुर लोग संस्कृतभाषी थे, यह भारतीय इतिहास से सिद्ध है[५] । ऋषि दयानन्द ने इसी ऐतिहासिक दृष्टिकोण को सम्मुख

१. इस प्रकरण के लिए देखिए लेख के अन्त में मुद्रित परिशिष्ट ।

२. यहां संस्कृत से अभिप्राय वेदभाषा से है । देखिए पुनः शोधित सत्यार्थ प्रकाश समु० ७। वहां लिखा है—'इस लिए संस्कृत में ही [वेदों का] प्रकाश किया जो किसी देश की भाषा नहीं और वेद भाषा सब भाषाओं का कारण है । ३. इस विषय के अधिक परिज्ञान के लिए श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत "भाषा का इतिहास" पृष्ठ २१९—२२२ (सं० २) देखना चाहिए ।

४. यह पुस्तक 'महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट टंकारा (सौराष्ट्र) से प्रकाशित हुई है । मूल्य १।।) है ।

५. देखिए पं० भगवद्दत्तजी विरचित वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १ सं० २, पृष्ठ ९१ 'अरब लोग संस्कृतभाषी थे ।'

रखकर 'त' निर्दिष्ट उदाहरण में अरबी की भी संस्कृत परम्परा से उत्पत्ति स्वीकार की है।

४ भाषाएं विकृत हुईं, विकसित नहीं—प्रायः आधुनिक भाषावैज्ञानिक भाषाओं का विकास मानते हैं, परन्तु भाषा का इतिहास बताता है कि भाषाएं उत्तरोत्तर विकृत हुईं, उनमें उत्तरोत्तर ह्रास हुआ, विकास नहीं हुआ। मैक्समूलर [L. S. L. Vol. 1, P. 36, 44, 48, 51, 272] शंकर पाण्डुरङ्ग (गौडवहो की भूमिका पृष्ठ ५६), वूलनर (प्राकृत प्रवेशिका, पृष्ठ ४५), ग्रे (Gray, P, 201) अरविन्द[1] आदि अनेक भाषावैज्ञानिक भाषाओं में उत्तरोत्तर ह्रास ही मानते हैं। भारतीय ऐतिहासिक पक्ष भी न केवल भाषा-विषय में, अपितु सभी विषयों में समूहावलम्बेन ह्रास पक्ष का ही प्रतिपादन करता है। भाषाओं में उत्तरोत्तर ह्रास हुआ है, विकास नहीं। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन ऋषि दयानन्द ने 'ग' और 'छ' उद्धरण के 'एक भाषा दूसरी भाषा का अपभ्रंश होकर उत्पन्न होती है' वाक्य द्वारा किया है। किसी भी भाषा में अपभ्रंश = विकार का होना, उसके ह्रास को ही व्यक्त करता है, न कि विकास को। अतः भाषाओं में विकास मानना, अथवा उसमें हुए ह्रास के लिए विकास की दुहाई देना, भाषा के इतिहास और भाषाशास्त्र के सिद्धान्तों के विपरीत है।

५ सभी अपभ्रंश नियमबद्ध नहीं होते—जर्मनी देश के कतिपय भाषाविज्ञों ने भाषाओं में होने वाले विकारों को नियमित घोषित करने का दुःसाहस किया है। उन्हें नियमित सिद्ध करने के लिए ग्रिम नियम, तालव्य नियम, आदि अनेक नियमों की सृष्टि की गई, परन्तु सभी अपभ्रंश = विकार नियमित सिद्ध न हो सके (द्रष्टव्य श्री पं० भगवद्दत्त जी विरचित भाषा का इतिहास, सं० २, पृष्ठ १३०—१७०)। भारतीय प्राचीन भाषाविज्ञ ऋषि मुनि और आचार्य भाषाओं में होने वाले विकारों में कुछ विकारों को नियमित स्वीकार करते हैं और कुछ विकारों को अनियमित मानते हैं। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने भाषाविकारों की अनियमितता घोषित करने के लिए यदृच्छा[2] और अशक्तिज शब्दों का प्रयोग किया है। आचार्य आपिशलि और पाणिनि अपने शिक्षा सूत्रों में लिखते हैं—

यदृच्छाशक्तिजानुकरणा वा यदा दीर्घाः स्युः। आपि० प्रक० ६।

यदृच्छाशब्देऽशक्तिजानुकरणे वा यदा दीर्घाः स्युः। पाणि० प्रक० ६।

६—भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के लिए और उनसे यथार्थ परिणाम निकालने के लिए संस्कृत भाषा के विशालतम शब्दकोष और तत्तत् शब्दों के विपुल विविध अर्थों का परिज्ञान होना आवश्यक है। अन्यथा वर्तमान में अति संकुचित रूप में अवशिष्ट संस्कृतभाषा के साथ अन्य भाषाओं की, की गई तुलना, न केवल अधूरी रहेगी, अपितु तुलना करने वाले को पथभ्रष्ट भी कर देगी और उसके आधार पर जो सिद्धान्त कल्पित किए जाएँगे, वे सर्वथा भ्रान्त होंगे। हम यहाँ एक उदाहरण द्वारा इस बात को स्पष्ट करते हैं—

बॉप जैसा प्रसिद्ध भाषा-वैज्ञानिक लिखता है—"कतिपय शब्दों की तुलना से ज्ञात होता है कि योरोपियन भाषाओं की अपेक्षा बंगला संस्कृत से अधिक दूर है। बंगला के 'बाप' और 'बोहिनी' शब्दों का संस्कृत के 'पितृ' और 'स्वसृ' शब्द से कोई दूर का भी संबंध नहीं है।" (द्र० वै० वाङ्मय का इतिहास भाग १, पृष्ठ ६६, ६७ सं० २)

विचारे बॉप को इतना भी ज्ञान नहीं था कि संस्कृत भाषा में पिता के लिए वाप और स्वसा के लिए भगिनी शब्दों का भी व्यवहार होता है। वाप शब्द का उल्लेख अमर कोश जैसे प्रसिद्ध और प्राथमिक कोश में मिलता है और भगिनी शब्द से साधारण संस्कृतज्ञ बालक भी परिचित है। इन्हीं प्रसिद्ध संस्कृत शब्दों में विकार होकर बङ्गला के 'बाप' और 'बोहिनी' शब्द बने हैं।

संसार की समस्त भाषाओं की संस्कृत भाषा से तुलना के लिए केवल संस्कृत के विपुल शब्दकोष और विपुल अर्थों का परिज्ञान भी पर्याप्त नहीं है, उसके साथ-साथ यह भी ज्ञात होना चाहिए कि किन एकार्थक (पर्याय) शब्दों में से किस शब्द का किस देश विशेष में प्रयोग होता

१. मैक्समूलर आदि के मूल उद्धरण और भाषा के ह्रास पक्ष के परिज्ञान के लिए श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत भाषा का इतिहास (सं० २) का 'भाषा की वृद्धि वा ह्रास' अध्याय देखिए।

२—यदृच्छा शब्दः स्वेच्छार्थो व्युत्पत्तिरहितः। माघ० टीका १।४।६॥

है और किस अनेकार्थक शब्द का किस देशविशेष में किस अर्थ में व्यवहार किया जाता है, क्योंकि एकार्थक अनेक शब्दों में से कोई शब्द किसी देश में व्यवहृत होता है और कोई किसी देश में। इसी प्रकार अनेकार्थक शब्दों की भी व्यवस्था देखी जाती है। भाषा के तुलनात्मक अध्ययन के लिए ही यह बात अत्यन्त आवश्यक है। अतएव भारतीय प्राचीन आचार्यों ने लिखा है—

एतस्मिंश्चातिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते। तद्यथा शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति········· हम्मतिः सुराष्ट्रेषु रंहतिः प्राच्यमगधेषु, गमिमेव-त्वार्याः प्रयुञ्जते। महाभाष्य १।१।१॥

अर्थात्—पूर्व निर्दिष्ट शब्द के महान् प्रयोग विषय में वे शब्द वहाँ वहाँ नियत देश वृत्तिवाले दिखाई पड़ते हैं। जैसे गत्यर्थक शव धातु का क्रिया रूप से प्रयोग कम्बोज में ही होता है, हम्म का सौराष्ट्र में, रंह का प्राच्य और मगध में, परन्तु [मध्य देशवासी] आर्य गम धातु का ही प्रयोग करते हैं।

शतपथ १।७।३।८ में भी लिखा है—

भव इति वाहीकाः शर्व इति प्राच्याः।

अर्थात्—[रुद्र के] भव नाम का प्रयोग वाहीक (सतलुज और सिन्ध, के मध्य) देश वाले करते हैं और शर्व का प्राच्य (प्रयाग से पूर्व) देश वाले।

केवल देश-विशेषों में ही शब्दों का विशिष्ट प्रयोग नहीं होता, अपितु जाति-विशेषों में भी नियत शब्दों का प्रयोग देखा जाता है। इसी दृष्टि से महाभाष्यकार पतञ्जलि ने शब्द के प्रयोग-विषय का उल्लेख करते हुए लिखा है—

त्रयो लोकाः। महाभाष्य १।१।१॥

अर्थात्—देव मनुष्य और असुर जातियों में भी विभिन्न शब्दों का नियत प्रयोग देखा जाता है।

माध्यन्दिन शतपथ १०।६।४।१ तथा काण्व बृहदारण्यक उपनिषद् १।१।२ से भी उक्त सिद्धान्त की पुष्टि होती है। वहाँ लिखा है—

हयो भूत्वा देवान् अवहत्, वाजी गन्धर्वान्, अर्वा असुरान्, अश्वो मनुष्यान्।

अर्थात् [घोड़ा] 'हय' नाम वाला होकर देवों को वहन करता है, 'वाजी' नाम से गन्धर्वों को, अर्वा नाम से असुरों को, अश्व नाम से मनुष्यों को।

वर्तमान अरब और मिश्र आदि देश के निवासी पुराने असुरों के वंशज हैं। असुरों में अश्व के लिए अर्वा शब्द का प्रयोग होता था। अरब देश अश्वों के लिए आज भी प्रसिद्ध है। अरब नाम अश्व वाची अर्वा का ही विकृत रूप है। यह निस्सन्दिग्ध है। अश्व का एक पर्याय ह्रेष भी है। इसी से अंग्रेजी के अश्व वाचक हार्स शब्द का संबन्ध है।

संस्कृत भाषा में अर्ध, नेम और सामि शब्द अर्ध के पर्याय हैं। मीमांसा १।३।५ के पिकनेमाधिकरण से ज्ञात होता है कि आर्यों में अर्ध शब्द का और म्लेच्छों में नेम शब्द का व्यवहार होता था। हिन्दी का आधा शब्द अर्ध का अपभ्रंश है और फारसी का नीम = न एम शब्द संस्कृत के नेम का। इसी प्रकार अंग्रेजी का (Semi) संस्कृत के सामि और लैटिन का Ordo अर्ध के साथ संबन्ध रखता है।[1]

इतना ही नहीं, विद्या के विभिन्न क्षेत्रों में भी विभिन्न पर्याय शब्द नियत विषयक देखे जाते हैं और अनेकार्थक शब्द अर्थभेद से विभिन्न शास्त्रों में प्रयुक्त होते हैं। इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए भगवान् पतञ्जलि ने चत्वारो वेदा से लेकर वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकम् तक अनेक विद्याग्रन्थों का निर्देश करके एतावाञ्छब्दस्य प्रयोग-विषयः लिखा है (महाभाष्य १।१।१॥)

अनेकार्थक एक शब्द किसी देश में किसी अर्थ में प्रयुक्त होता है और अन्य देश में उसका अन्यार्थ में प्रयोग देखा जाता है। इस तथ्य को मीमांसा १।३।४ के आर्यम्लेच्छ प्रसिद्धि—अधिकरण में निम्न शब्दों में अभिव्यक्त किया है।

तत्र केचिद् दीर्घशूकेषु यवशब्दं प्रयुञ्जते, केचित् प्रियंगुषु। वराहशब्दं केचित् सूकरे, केचित् कृष्णशकुनौ। वेतसशब्दं केचिद् वञ्जुलके, केचिज्जम्ब्वाम्।

अर्थात्— कुछ लोग (=आर्य) दीर्घशूक (=जौ) के अर्थ में 'यव' शब्द का प्रयोग करते हैं, कुछ लोग (=म्लेच्छ) प्रियङ्गु (=लता विशेष) अर्थ में। वराह शब्द को कुछ लोग (=आर्य) सूवर अर्थ में, कुछ लोग

१. द्रष्टव्य—भाषा का इतिहास सं० २, पृष्ठ १९८।

(म्लेच्छ) काले पक्षि विशेष में। वेतस शब्द को कुछ लोग (=आर्य) बेंत अर्थ में, कुछ लोग (=म्लेच्छ) जामुन के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं।

इस प्रकार भारतीय प्राचीन भाषाविज्ञों ने एकार्थक अनेक शब्दों की देश, जाति और विद्याविशेष के भेद से नियत-वृत्तिता और अनेकार्थक शब्द की देश और जाति भेद से भिन्नार्थ-वृत्तिता के जो सिद्धान्त व्यवस्थापित किए हैं, उन्हीं के अनुसार ऋषि दयानन्द ने भी झ निर्दिष्ट उद्धरण में एकार्थक पर्याय शब्दों के विभिन्न देशों में नियत वृत्तिता और ञ निर्दिष्ट उद्धरण में अनेकार्थक शब्द का देशभेद से भिन्नार्थ-वृत्तिता की ओर संकेत किया है। ज निर्दिष्ट उद्धरण में 'गूढ' से अंग्रेजी के गॉड का जो संबन्ध दर्शाया है वह समानार्थक पर्यायों की नियत-वृत्तिता का उदाहरण है। गूढ शब्द संस्कृत भाषा में ईश्वर का भी पर्याय है, उसी से अंग्रेजी गॉड शब्द का निकटतम सम्बन्ध है।

७—भाषा के इतिहास में ध्वनि विकारों का जो महत्त्व है, वह किसी भी भाषाशास्त्रज्ञ से छिपा नहीं है। देश काल आदि के भेद से ध्वनि में विकार उत्पन्न होते हैं और उन विकारों का अपभ्रंशों की उत्पत्ति पर प्रभाव पड़ता है। अतएव भारतीय आचार्यों ने भाषा की रक्षा के लिए वर्णों के यथार्थ उच्चारण पर अत्यधिक ध्यान दिया है। उन्होंने इसे एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में स्वीकार किया है। भारतीय शिक्षा ग्रन्थों में ध्वनिविकार किन-किन कारणों से उत्पन्न होते हैं, इसकी अति सूक्ष्म विवेचना मिलती है। जिन दोषों के कारण ध्वनियाँ विकृत होकर वर्णान्तर को उत्पन्न करती हैं, अथवा भाषा में विकार उत्पन्न करती हैं, उनमें से उदाहरण के लिए हम दो दोषों का निर्देश नीचे करते हैं—

भारतीय आचार्यों ने निर्हत अथवा अधिक प्रयत्न और अर्धक अथवा अल्प प्रयत्न को उच्चारण दोषों में गिना है। इन दो उच्चारण दोषों का भाषा परि-वर्तन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। ज और य दोनों वर्णों का तालु स्थान और बाह्य प्रयत्न समान है, परन्तु आभ्यन्तर प्रयत्न इन दोनों के भिन्न-भिन्न हैं। ज का आभ्यन्तर प्रयत्न स्पृष्ट= जिह्वा तालु के साथ पूर्ण स्पर्श है और य का ईषत् स्पृष्ट = जिह्वा का तालु के साथ नाममात्र का स्पर्श। इन दोनों वर्णों का यदि क्रमशः अर्धक और निर्हत दोष-युक्त उच्चारण किया जाए अर्थात् ज का स्पृष्ट प्रयत्न से उच्चारण न करके अर्धक दोष दुष्ट ईषत् स्पृष्ट उच्चारण किया जाए तो ज ध्वनि य ध्वनि में परिवर्तित हो जाएगी और यदि य वर्ण का ईषत् स्पृष्ट उच्चारण न करके निर्हत दोष दुष्ट (पूर्ण स्पृष्ट) उच्चारण किया तो य ध्वनि ज ध्वनि में परिवर्तित हो जाएगी। इन दोनों दोषों के कारण संस्कृत के अनेक पदों में ध्वनिविकार हुए हैं। यथा—

ज का य—जानाति = याणादि, जनपद = यणपद।

य का ज—यमुना = जमुना, यशोदा = जसोदा।

इसी उच्चारण भेद से होने वाले ध्वनिविकारों का सोदाहरण निर्देश ऋषि दयानन्द ने 'ट' निर्दिष्ट उद्धरण में किया है।

८—ध्वनिविकारों की उत्पत्ति में ध्वनिव्यञ्जक अङ्गों की अस्वाभाविक कोमलता और कठोरता अथवा अन्य प्रकार के विकारों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीय प्राचीन आचार्य इस रहस्य से पूर्ण विज्ञ थे। वे यह भी जानते थे कि ध्वनिव्यञ्जक अङ्गों के सौष्ठव अथवा विकार के साथ भोजन छादन आदि का घनिष्ट सम्बन्ध है। अतएव उन्होंने वेद के यथार्थ उच्चारण की रक्षार्थ वेदपाठियों के लिए ऐसे भोजनों और दन्तधावन आदि उपकरणों का विधान किया है, जिनसे उनके ध्वनिव्यञ्जक अङ्ग अपने यथार्थ रूप में रहें, विकृत न हों। यथोचित भोजन और दन्तधावन आदि के नियमों के परिज्ञान के लिए वाज-सनेय प्रातिशाख्य तथा नारदीय शिक्षा आदि ग्रन्थ देखने चाहियें।

ध्वनिव्यञ्जक अङ्गों के विकार के कारण जो ध्वनि-विकार उत्पन्न होते हैं, उनका संकेत ऋषि दयानन्द ने 'ठ' निर्दिष्ट उद्धरण में किया है।

९—विद्या की न्यूनता अथवा अहम्मन्यता आदि के कारण भाषाओं में सांकेतिक शब्दों की प्रवृत्ति होती है। उन सांकेतिक शब्दों की विभिन्नता भी भाषाभेद में कारण होती है। यतः इन सांकेतिक शब्दों का मूलभाषा से कोई सम्बन्ध नहीं होता, अतः इस प्रकार के शब्दों की अन्य भाषा के शब्दों के साथ की गई पारस्परिक तुलना भी किसी तथ्य को प्रकट करने में असमर्थ होती है। प्राचीन भारतीय भाषाविज्ञों ने इन सांकेतिक शब्दों को यदृच्छा शब्दों के अन्तर्गत स्वीकार किया है। अति प्राचीन

काल में संस्कृत भाषा में कोई सांकेतिक अथवा यदृच्छा शब्द प्रयुक्त नहीं होता था। समस्त नामकरण अन्वर्थ किया जाता था। उत्तर काल में जब संस्कृत भाषा में भी सांकेतिक = यदृच्छा शब्दों का प्रवेश पर्याप्त मात्रा में हो गया। तब उस समय के भाषाविज्ञों ने संस्कृत भाषा के शब्दों के वर्गीकरण में यदृच्छा शब्दों की भी गणना आरंभ की। इसी दृष्टि से महाभाष्यकार पतञ्जलि ने लिखा है—

चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः—क्रियाशब्दा जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः। ऋलृक् सूत्रभाष्ये।

यदृच्छा शब्दों का संस्कृत भाषा में प्रवेश हो जाने पर भी अनेक आचार्यों ने यदृच्छा शब्दों को संस्कृत भाषा का अङ्ग मानना स्वीकार नहीं किया। इसी दृष्टिकोण से भगवान् पतञ्जलि ने दूसरा पक्ष उद्धृत किया है—

न सन्ति यदृच्छाशब्दाः। ऋलृक् सूत्रभाष्ये।

उपसंहार

ऋषि दयानन्द के भाषाविज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले जितने वाक्य उनके ग्रन्थों में उपलब्ध हुए, उनका संकलन हमने इस लेख में किया है। साथ में उनके वचनों की संक्षिप्त व्याख्या भी की है। इन दोनों के अवगाहन से प्रत्येक व्यक्ति भले प्रकार समझ सकता है कि ऋषि दयानन्द ने भारतीय तथा पाश्चात्य उभयविध भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों का गहरा अनुशीलन किया था और वे भारतीय भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों को योरोपियन सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक व्यापक तथा युक्तियुक्त समझते थे।

आशा है भाषाविज्ञान में रुचि रखने वाले महानुभावों को इस लेख से कुछ नया विचार अवश्य प्राप्त होगा॥

लेख का परिशिष्ट

महाभाष्य के एक वचन की अपूर्व व्याख्या

हमने इस लेख में "ध" संकेतित जो उद्धरण दिया है, वह ऋषि दयानन्द ने महाभाष्य के—

अपशब्दज्ञानपूर्वके शब्दज्ञाने धर्मः (पस्पशाह्निक)

वचन की व्याख्या में लिखा है। ऋषि दयानन्द ने महाभाष्य के उक्त वचन की बड़ी सुन्दर एवं अपूर्व व्याख्या सत्यार्थ प्रकाश (प्रथम संस्करण, सं० १९३२), पृष्ठ ३२७ में की है। पाठकों के लाभार्थ हम यहाँ उसे उद्धृत करते हैं।

ऋषि दयानन्द ने न वदेद् यावनीं भाषां वचन का खण्डन करते हुए लिखा है—

मुसलमान की भाषा पढ़ने में अथवा कोई देश की भाषा पढ़ने में कुछ दोष नहीं होता, किन्तु कुछ **गुण** ही होता है। **अपशब्दज्ञानपूर्वके शब्दज्ञाने धर्मः** यह व्याकरण महाभाष्य का वचन है। इसका यह अभिप्राय है कि अपशब्दज्ञान अवश्य करना चाहिए, अर्थात् सब देश-देशान्तर की भाषा को पढ़ना चाहिए। क्योंकि उनके पढ़ने से बहुत व्यवहारों का उपकार होता है। और **संस्कृत शब्द के ज्ञान का भी उनको यथावत् बोध होता है।** जितनी देशों की भाषा जाने, उतना ही पुरुष को अधिक ज्ञान होता है, क्योंकि संस्कृत के शब्द बिगड़ के देश भाषा सब होती हैं। इससे इनके ज्ञानों से परस्पर संस्कृत और भाषा के ज्ञान में उपकार ही होता है। इसी हेतु महाभाष्य में लिखा कि अपशब्द ज्ञानपूर्वक शब्द ज्ञान में धर्म होता है अन्यथा नहीं। क्योंकि जिस पदार्थ का संस्कृत शब्द जानेगा और उसके भाषा शब्द को न जानेगा तो उसके यथावत् पदार्थ का बोध और व्यवहार भी नहीं चल सकेगा।

एक वाक्य की व्याख्या

उक्त उद्धरण में एक वाक्य है—

संस्कृत शब्द के ज्ञान का भी उनको यथावत् बोध होता है।

इस वाक्य को अगले वाक्य क्योंकि संस्कृत के शब्द बिगड़ के सब देश भाषा होती है के साथ मिलकर पढ़ने से प्रतीत होता है कि ऋषि दयानन्द इन वाक्यों द्वारा यह बात प्रकट करना चाहते हैं कि यतः संस्कृत शब्द बिगड़ के ही देश-देशान्तर की भाषा बनीं, अतः अनेक देशों की भाषा जानने से उन-उन भाषाओं में जो शब्द संस्कृत से बिगड़ कर बने हैं उन शब्दों के जानने से उनके मूलभूत संस्कृत भाषा के उन लक्षों शब्दों का ज्ञान हो सकता है जो आज वर्तमान काल में अति-संकुचित हुई संस्कृत भाषा में लुप्त हो चुके हैं। ऋषि दयानन्द के इस मन्तव्य की पुष्टि महाभाष्य के सर्वे देशान्तरे वार्तिक की व्याख्या में सप्तद्वीपा वसुमती त्रयो लोकाः

पृथिवी के सातों महाद्वीप और देव असुर मनुष्य तीनों प्रकार की प्रजाओं में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों की ओर निर्देश करने से भी होता है। महाभाष्यकार के काल में भारत वर्ष में ही संस्कृत का साम्राज्य नहीं रहा था। यहाँ भी अनेक प्राकृत भाषाएँ उत्पन्न हो गई थीं (देखो— 'आणवयत्यादिनिवृत्त्यर्थम्' १।३।१ वार्तिक की व्याख्या)। तब उस काल में सप्तद्वीपा वसुमती को संस्कृत भाषा क्षेत्र बताना तभी संगत हो सकता है जब कि पृथिवी तात्कालिक सम्पूर्ण भाषाओं को संस्कृत की अपभ्रंश मा जाए और उन अपभ्रंशों के आधार पर उन-उन प्रदे में ही विशेष रूप से प्रयुक्त होने वाले संस्कृत के मूल श का परिज्ञान किया जाये ॥